

भारत में आकलन मॉडलों का ऐतिहासिक सर्वेक्षण: संभावनाएं एवं चुनौतियां

जैकब थारु

समकालीन शैक्षिक विमर्श में परीक्षा व्यवस्था की केन्द्रीयता के स्थान पर सतत एवं समग्र मूल्यांकन पर बहस हो रही है। शिक्षा के अधिकार ने इसे कानूनी रूप प्रदान कर दिया है। हालांकि अधिकांश शिक्षाकर्मियों में सतत एवं समग्र मूल्यांकन की पूर्व-मान्यताओं और निहितार्थों पर स्पष्टता नहीं दिखाई देती। यह लेख सतत एवं समग्र मूल्यांकन की मान्यताओं और निहितार्थों पर चर्चा करता है।

प्रारंभिक औपचारिकताओं के बाद, मुझे खुशी है कि मैं यहां आ सका। यह मेरे लिए भी सीखने का अनुभव होगा।

अधिक समय लगाए बिना मैं मुद्दे पर आता हूं। दरअसल, शाहीन तथा श्रीकांत से लम्बी चर्चाओं के बावजूद मैं इस संदर्भ में क्या उपयोगी होगा, इसके बारे में उतना ही अस्पष्ट हूं, जितना पहले था और यहां उपस्थित संभागियों के अनुभवों व पृष्ठभूमियों को जानने-सुनने के बाद मैं और भी उलझनों से घिर गया हूं।

मैं आकलन की कुछ बुनियादी अवधारणाओं को स्पष्ट करने की चेष्टा करूंगा। किसी व्यक्ति की विशेषताओं का व्यवस्थित रूप से अध्ययन करने के लिए कई ऐसे नामों का प्रयोग होता है जो परस्पर आच्छादित हैं : परीक्षण, मूल्यांकन, आकलन सबसे आम हैं। क्योंकि परीक्षा और इम्तहान (टेस्ट्स तथा एक्सामिनेशनस) से व्यवहारिक गतिविधि इस कदर जुड़ी हुई होती है कि हम उनमें छिपी महत्वपूर्ण मान्यताओं पर ध्यान नहीं देते। जैसा अनेकानेक बार और बिल्कुल सही कहा गया है कि इस देश में हमारे पास शिक्षा व्यवस्था के बजाय एक परीक्षा व्यवस्था ही है। अब इस विशाल, बुरी और गैर-लचीली परीक्षा व्यवस्था की दरारों से निकलकर एक शिक्षा व्यवस्था क्रमशः उभर रही है और अपने दावे सामने रख रही है। हम इसी संधि काल में हैं। ऐसे नीतिगत बदलाव लाए गए हैं जिनमें दूरगामी परिणामों की संभावनाएं हैं और इनको लेकर हम प्रसन्न हो सकते हैं। केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड ने दसवीं की अनिवार्य बोर्ड परीक्षाओं को समाप्त कर दिया है तथा सतत एवं समग्र मूल्यांकन को लागू करने के पीछे शिक्षा के अधिकार की कानूनी शक्ति है। परन्तु ये संरचनात्मक बदलाव अपने बूते पर तेजी से उन विविध समस्याओं का उन्मूलन नहीं कर सकते जो शिक्षाशास्त्रीय, व्यक्तिगत तथा सामाजिक स्तरों पर मौजूद हैं। हमें मूल्यांकन प्रक्रिया के उन अपरिवर्तनीय व आवश्यक तत्वों के प्रति भी सचेत रहने की जरूरत है। प्रसंग के अंत में प्रकाश की जिस झलक का वादा है वह साकार रूप ले, उसके पहले हमें अनेक चीजें करनी हैं। मुझे लगता है कि नई तकनीकों की व्यवहारिक बारीकियों पर काम करना जितना महत्वपूर्ण है, उतना ही जरूरी है अपनी मनोवृत्ति में बदलाव लाना।

में जो करूंगा - और यह लगभग अपरिहार्य ही है, क्योंकि मैं आकलन का शिक्षक रहा हूँ और एक लम्बे अर्से से शिक्षकों को संबोधित करता रहा हूँ - वह है आकलन की दो-एक अवधारणाओं को स्पष्ट करने की चेष्टा। यह आपको आकलन करना सिखाने के लिए नहीं है, पर यह मुझे इसलिए जरूरी लगता है कि क्योंकि अब हम मूल्यांकन पर महज बातचीत से आगे बढ़ रहे हैं। परीक्षा वह विशाल और बुरी वस्तु है जिसे हमें नियंत्रित करना है। इसलिए क्योंकि सतत एवं समग्र मूल्यांकन अब तक आ नहीं पाया है और केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड (सीबीएसई) ने बोर्ड परीक्षा समाप्त कर दी है। यहां खतरा यह है कि हम कहीं यह न सोचने लगे कि हमें उन्हें वापस लाना चाहिए और यह कि आकलन हमारी पहुंच में है। प्रकाश की झलक नजर जरूर आ रही है, पर उसके पहले हमें एक लंबी दूरी भी तय करनी है। तो मैं इससे संबंधित चंद बिन्दुओं को स्पष्ट करना चाहूंगा - आकलन क्या है या मापन क्या है या परीक्षण क्या है? इन सवालों पर हम खास ध्यान नहीं देते क्योंकि हम इन्हें स्वीकृत मान लेते हैं।

आकलन प्रक्रिया का हृदयस्थल एक तकनीकी संक्रिया है जिसे मापन कहा जाता है। इसकी केन्द्रीय स्थिति को पहचानना जरूरी है। यह कहकर कि अब हम अंक नहीं देते और ग्रेड या गुणात्मक श्रेणियों (ग्रेड्स) का उपयोग करते हैं, यह अपने-आपमें इस संक्रिया को समाप्त नहीं करता। इस अवधारणा को स्पष्ट करने के लिए कुछ पीछे चलते हैं, उस चीज की ओर जो हम सबने हाई स्कूल में अपने भाषा-साहित्य पाठ्यक्रमों में किया था। यह है कहानियों, नाटकों, उपन्यासों के पात्रों का 'चरित्र चित्रण' : अक्सर नायक या नायिका या कोई अन्य पात्र जिसकी कथानक में अहम भूमिका हो। इसमें क्या किया जाता है? हम नायक/नायिका/पात्र जो कर रहा है या जो वह कह रहा है उसे पढ़कर व्याख्या करते हैं। कहानियों में लोग कुछ करते हैं और नाटकों में वे अधिकांशतः चीजों के बारे में बोलते हैं। दोनों ही स्थितियों में इस सूचना का उपयोग कर यह व्याख्या करते हैं कि वह पात्र किस प्रकार का है। तब हम उसके स्मरणीय गुणों, जैसे दयालुता, बेवकूफी, महत्वाकांक्षा आदि पर कुछ वक्तव्य देते हैं। अर्थात् यहां कहानी, नाटक या उपन्यास से प्राप्त सूचना को एक प्रकार का प्रमाण माना जाता है।

हम सभी ने जिन्होंने हाई स्कूल की पढ़ाई की है, और हममें से कुछ जिन्होंने अंग्रेजी पढ़ी है, कहानियों और उपन्यासों के आधार पर चरित्र चित्रण किया है। वहां होता दरअसल क्या है? हम कहानियों में पात्र जो करता है या नाटक हो तो वह कहता है, को लेते हैं। शेक्सपीयर के नाटकों में पात्र जो कुछ कहता है वही महत्वपूर्ण होता है। उनके पात्र कुछ करते नहीं हैं। वे तमाम चीजों के बारे में बोलते हैं। और इसी के आधार पर हम अनुमान लगाते हैं कि उस पात्र के स्मरणीय व्यक्तिगत गुण क्या हैं। यों हम लेडी मैकबेथ, हैमलेट, ओथेलो आदि पात्रों के चरित्र तक पहुंचते हैं (माफ करें, मैंने हाई स्कूल के बाद भारतीय साहित्य पढ़ा नहीं, सो मैं केवल ब्रितानी साहित्य से ही परिचित हूँ)।

यहां अप्रत्यक्षता का सिद्धान्त बुनियादी है। हम पात्र के कृत्यों या शब्दों (प्रदर्शन) को देखते हैं और उस आधार पर किसी व्यक्तिगत गुण के बारे में अनुमान लगाते हैं। यहां तर्क यह होता है कि यह आंतरिक व छिपा हुआ व्यक्तिगत गुण प्रदर्शन में अभिव्यक्त होता है। इस प्रक्रिया को परंपरागत परीक्षण विधि में देख पाना आसान है। हम शिक्षार्थियों के उत्तरों (प्रदर्शन) को, जो उत्तर पुस्तिका में दर्ज होते हैं, देखते या जांचते हैं और इस आंकड़े के आधार पर किसी दिए गए विषय में छात्रा के ज्ञान, उसकी समझ और कौशल का अनुमान लगाते हैं। आमतौर पर यह माना जाता है कि अंकों का प्रयोग इस प्रक्रिया को मापने की प्रक्रिया बनाता है। पर यह बात पूरी तरह सच नहीं है। मापन का केन्द्रीय सिद्धान्त अप्रत्यक्षता है; एक संकेतक (इन्डैक्स) का अवलोकन कर और तब किसी छिपे हुए गुण के विषय में अनुमान लगाना। मूल्यांकन में वैधता की केन्द्रीय समस्या यहीं स्थित है। जिस अवलोकनीय संकेतक की हम (गुप्त) गुणों के प्रतिनिधित्व के लिए चुनते हैं, जिसका पता लगाना हमारा लक्ष्य है, वह गलत या अपर्याप्त हो सकता है। यही वैधता की

लेखक

जैकब थारु

सीआईईएफएल, हैदराबाद में कार्यरत हैं। टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज, मुंबई द्वारा संचालित आरंभिक शिक्षा में एमए कोर्स की रूपरेखा बनाने वाले वर्किंग ग्रुप के सदस्य रहे हैं। पिछले अनेक दशकों से आकलन पर कार्य कर रहे हैं।

समस्या है। किसी संकेतक के उपयोग से हम बच नहीं सकते। अतः हम केवल उस अवैधता को कम करने की चेष्टा मात्र कर सकते हैं। पूर्ण वैधता को हासिल करना असंभव है। मनोवैज्ञानिक आकलन-परीक्षण में हमें जिस चीज का अवलोकन करना होता है, वह है प्रदर्शन। कई लोग आचरण को केन्द्रीय बनाने के प्रति शंकालु होते हैं या उसका विरोध करते हैं, क्योंकि उसे व्यवहारवाद से जुड़ा माना जाता है। अतः हम उसे हटा देना चाहते हैं, यह विचार बढ़िया है। परन्तु व्यवहारवादी ध्येयों को त्यागना और यह कहने से कि हम सांख्यिक परीक्षण-मूल्यांकन के बजाय गुणात्मक आकलन करेंगे बुनियादी नियम बदल नहीं जाता। हम समझ को या उच्च स्तरीय चिंतन अथवा रचनात्मकता या *किसी भी मानवीय गुण को प्रत्यक्ष रूप से देख या महसूस नहीं कर सकते। हमें किसी न किसी अवलोकनीय संकेतक पर जैसा हम देख चुके हैं, निर्भर होना ही पड़ता है।* आमतौर पर यह संकेतक प्रदर्शन ही होता है।

यह उपयोगी है कि हम प्रश्न-पत्र को उत्तर-पुस्तिका पाने के (दरअसल हजारों पुस्तिकाओं को पाने के) साधन मात्र के रूप में देखें। उत्तर-पुस्तिका में दर्ज इस प्रदर्शन के रिकॉर्ड के साथ 'जांचने वाला' जो करता है वही दरअसल आकलन के मूल में है। परीक्षाओं को बेहतर बनाने को लेकर खूब बातें हुई हैं और कुछ ठोस कदम भी उठाए गए हैं, परन्तु छात्राओं के उत्तरों का मूल्य लगाने या अंक देने के मानदण्ड पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है (यह टिप्पणी केवल प्रसंगवश है। परीक्षा सुधार पर विस्तृत चर्चा छेड़ने की मेरी कोई मंशा नहीं है)।

अप्रत्यक्षता के सिद्धान्त पर लौटें, तो यह गौर करने लायक तथ्य है कि यह सिद्धान्त सभी प्रकार के मापन पर लागू होता है। कोई भौतिकशास्त्री इसमें किसी मनोवैज्ञानिक से बेहतर नहीं कर सकता। तापमान का ही उदाहरण लें। शरीर का तापमान नापने के लिए किसी बच्चे के मुंह में एक मिनट तक थर्मोमीटर रखा जाता है। तब उसके माता-पिता या कोई नर्स खिड़की के पास खड़े होकर पारे की पट्टी को देखते हैं ताकि वे शरीर के तापमान को पढ़ सकें। गौर करें कि अवलोकन दरअसल पारे की इस पट्टी का किया जाता है। भौतिकशास्त्र के सिद्धान्त (पारा समान रूप से फैलेगा, कांच में न्यूनतम फैलाव आएगा, पारा कांच की परत पर नहीं चिपकेगा, आदि) हमें शरीर या पानी या दूध के तापमान को नापने का एक अवलोकनीय संकेतक देता है। इसी तरह जब हम वजन को नापते हैं तो कमानी-दार तराजू ही (किराने की दुकान में) हमें तौली जा रही चीज का माप, डेढ़ किलो या पांच किलो, बताता है।

तो इस नियम से बचने का कोई उपाय नहीं है। जैसे-जैसे हम सतत एवं समग्र मूल्यांकन के तहत आकलन की व्यापकता को बढ़ाते हैं (और सही ही करते हैं) हमारा सामना इस नियम से होता है। छात्राओं में मुख्यतः पाठ्यचर्या संबंधित गतिविधियों के माध्यम से जिन व्यक्तिगत गुणों के विकसित होने की उम्मीद हम करते हैं उनका आकलन भी हमें करना है। ऐसे प्रत्येक गुण के लिए (इनके लिए सुंदर ध्वनित होने वाला नाम तलाशना आसान है) एक विशिष्ट उपयुक्त व अवलोकनीय संकेतक भी तलाशना पड़ेगा। साथ ही उसमें वैधता के विषय में कोई औचित्यपूर्ण दावा भी होना होगा। मेरा मानना है कि सतत एवं समग्र मूल्यांकन के तहत इस संकेतक को किसी प्रकार का प्रदर्शन प्रेम होना होगा। यहां भी हमें प्रत्येक गुण के लिए एक समुचित संकेतक तलाशना होगा और इस संकेतक का किसी प्रकार का प्रदर्शन ही होना होगा। अगर आपको प्रदर्शन का व्यवहारवाद से जुड़ाव नापसंद है तो इसे आचरण न कहें। परन्तु इससे यह तथ्य नहीं बदलेगा कि आप किसी संकेतक का उपयोग कर रहे हैं।

मापन की धारणा को स्पष्ट कर चुकने के बाद मैं, अपने केन्द्रीय प्रस्तावों में से एक को रखना चाहूंगा। मापन-परीक्षण के क्षेत्र में दो परंपराएं हैं (बेशक वे परस्पर आच्छादित हैं)। एक तो *मनोवैज्ञानिक* परीक्षण के क्षेत्र में स्थित है तथा दूसरी *शैक्षणिक परीक्षण* की है। दोनों ही क्षेत्रों में लक्षित (गुप्त) गुणों के लिए एक

वैध सूचकांक की समस्या उभरती है। मेरा तर्क यह रहता है कि इन दोनों क्षेत्रों में हम जिस प्रकार के मानवीय गुणों को लक्षित करते हैं उनमें एक बुनियादी अंतर है। मनोवैज्ञानिक परीक्षण का संबंध टिकाऊ व्यक्तिगत गुणों से होता है; व्यक्तित्व के पक्ष, तथाकथित बुद्धिमत्ता, रुझान आदि से। यहीं विश्वसनीयता की धारणा भी आती है। हम किसी व्यक्ति की परीक्षा ले सकते हैं और उसे उसमें अंक दे सकते हैं। परन्तु दो या तीन सप्ताह बाद इसी परीक्षा को दोहराने पर नतीजा पहले से खास भिन्न नहीं होना चाहिए। इसी तरह अगर कोई दूसरा व्यक्ति (जिसमें ऐसा करने की लियाकत हो) कोई समांतर परीक्षा बनाकर और उसी शिक्षार्थी पर उसका उपयोग करे, तो भी प्राप्तांक लगभग पहली परीक्षा के ही समान होने चाहिए। यहां हम यह मानकर चलते हैं कि जिस गुण को हम माप रहे हैं वह अटल या स्थायी है। यह कथन बहुत बड़ा है। हमें इस पर चिंतन करना चाहिए।

मनोवैज्ञानिक आकलन में विश्वसनीयता का सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि व्यक्तिगत मानवीय गुण स्थायी होते हैं। आलोचनात्मक दृष्टि से इसे देखें तो यह कथन काफी अजीबोगरीब है। पर जाहिर है कि हम इसे अनुदत्त ही मान लेते हैं। जब भी योग्यता की बात होती है तो उसमें यही तर्क निहित होता है। कुछ लोगों (समाज के कुछ तबकों) में योग्यता होती है और दूसरे तबकों के लोगों में नहीं होती। इसे एक अपरिवर्तनीय स्थिति के रूप में देखा जाता है। हम किसी के बारे में उसकी पिछले साल की योग्यता और इस वर्ष एक अलग ही स्तर की योग्यता की बात नहीं करते। हमें स्थायित्व की इस धारणा के विषय में सावधानी बरतनी होगी। इसे कितने व्यापक स्तर पर लागू किया जा सकता है?

उपरोक्त बात सामान्य मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के बारे में है। जब हम शिक्षा के क्षेत्र में आकलन पर आते हैं, हमारे क्षेत्र में, जो लक्षित है उसमें महत्त्वपूर्ण अंतर होता है। यहां ध्यान के केंद्र में वह प्रक्रिया है जिसे सीखना कहते हैं - पढ़ाने में भी और आकलन में भी। और यहां एक भारी समस्या है, क्योंकि सीखना, उसकी परिभाषा द्वारा ही कुछ ऐसी चीज है जो बदलती है, क्रमशः उभरती है, जो आसानी से पकड़ में नहीं आती, यानी दुर्ग्राह्य है। तो फिर सीखने की परीक्षा क्या है? हम किसका अध्ययन करना चाहते हैं, किसे पकड़ना चाहते हैं? अगर हम यह जानते हैं तो इसे मापने का उपयुक्त सूचकांक क्या है? मुझे लगता है कि वैधता के विषय में यह बुनियादी सवाल ही वह समस्या है, जिसे सुलझाना तो दूर कभी गंभीरता के साथ संबोधित ही नहीं किया गया है। सार्वजनिक शिक्षा में पूरी निष्ठुरता से परीक्षाएं ली जाती रही हैं : नीतिगत निर्णय उन्हें अधिकृत भी करते हैं। हम उनकी बुनियादी तार्किकता का विश्लेषण किए बिना उन्हें स्वीकारते रहे हैं, इसलिए क्योंकि हमारे पास कोई विकल्प ही नहीं है। सीखने के आकलन में जो होता है, उस विषय में हम स्पष्ट हो जाएं, इसके लिए हम दसवीं की बोर्ड परीक्षा का उदाहरण लेते हैं।

हर साल 21 से 28 मार्च के बीच हम विभिन्न विषयों में छात्र-छात्राओं की परीक्षा लेते हैं। वे तीन घंटों की अवधि में अपनी उत्तर पुस्तिकाओं में जो लिखते हैं वही प्रमाण हम पाते हैं। गौर करें कि दस वर्ष की शिक्षा के नतीजे के बारे में अपनी घोषणा करने के लिए (अंकों/ग्रेडों के रूप में) एकमात्र प्रमाण ये उत्तर पुस्तिकाएं ही होती हैं। उसके शेष जीवन में जो भी श्रेणी हम उसे देते हैं (प्रथम श्रेणी, द्वितीय श्रेणी या तृतीय श्रेणी में मैट्रिक पास) वह एक स्थाई रूप से उससे चिपका रहता है - उसी तरह जैसे कपाल पर जाति सूचक छपा। और उसका एक मूल्य तथा वजन भी होता है। सालों बाद जब वह किसी नौकरी या प्रवेश या छात्रवृत्ति के लिए आवेदन करता है, यह तथ्य उसके जीवनवृत्त में, उसकी प्रारंभिक शिक्षा/योग्यता के तहत स्थान पाता है। चयन समिति के सदस्यों के दृष्टिकोण को यह प्रभावित कर सकता है। मैं चालीस सालों तक चयन समितियों में बैठा हूं। सो मैं यह बखूबी जानता हूं।

मैंने केवल दसवीं के इम्तहान का उल्लेख किया है। परन्तु सत्र समापन या शिक्षण के उपरान्त सीखने का आकलन या परीक्षण करने वाले सभी तरीकों में भी ठीक यही होता है। हम बिल्कुल मनमानी तारीख या तारीखों के दौरान तैयार किसी गतिविधि के दस्तावेज को (किसी भी पढ़ाए विषय में समस्या समाधान का) विश्लेषण करते हैं और हमारे निष्कर्षों को (जो 'आंकड़ों के इस विश्लेषण' से निकलते हैं) हम अंकों/श्रेणियों में कूटबद्ध करते हैं। ये अंक/श्रेणियां पाठ्यक्रम के किसी अपेक्षित हिस्से को सीखने में परीक्षार्थी की सफलता के स्तर का औपचारिक प्रतिनिधित्व करते हैं। इन्हें जोड़कर एक समग्र औसत तक पहुंचा जाता है। अब यहां जिसे मापा जा रहा है वह बदल जाता है। हम अब छात्र की शैक्षिक क्षमता (स्कॉलैस्टिक एबिलिटी) को नापते हैं। इस सूक्ष्म परन्तु बेहद महत्वपूर्ण बदलाव के प्रति हम सचेत तक नहीं होते। शैक्षणिक परीक्षाएं किसी कक्षा विशेष के स्तर पर किसी विशिष्ट तथा सीमित क्षेत्र में सीखे गए पर ध्यान केन्द्रित करने से प्रारंभ करती हैं, परन्तु वे क्रमशः एक बुनियादी गुण - शैक्षिक क्षमता का संकेतक बन जाती हैं। तो हम अंततः योग्यता की बात करने लगते हैं, हालांकि यह मंशा हमारी नहीं थी। यह एक ऐसा मुद्दा है जिसे हमें संबोधित करना है।

सीखने के आकलन में जो बुनियादी मुद्दा है, वह यह है कि हम सीखने को कैसे देखते हैं। यह उम्मीद तो हमेशा रहती है कि कुछ तो सीखा ही गया होगा या सीखा जाना चाहिए। इस बात के महत्त्व से अक्सर हम चूक जाते हैं, क्योंकि प्रगति का प्रबोधन (मॉनीटर) करने के लिए 'जो सिखाया गया था उसको जांचना' हमें सही प्रतीत होता है। परन्तु सीखने का आकलन 'कितना' सीखा गया या 'कितनी' प्रगति हुई से कहीं अधिक होता है। विभिन्न श्रेणियों- पास/संतोषजनक/अच्छा/श्रेष्ठ तक पहुंचने के लिए - हम एक मानक को लागू करते हैं। दूसरे शब्दों में किसी छात्र के प्रदर्शन को स्वीकार्य/अस्वीकार्य मानने का फैसला इसी तयशुदा मानक अथवा मानदण्ड के आधार पर किया जाता है। यह मूल्यांकन का वह स्तर है जो वर्णन के बाद आता है। यह शैक्षिक परीक्षण की खासियत है, जो मनोवैज्ञानिक परीक्षण (जिसका वर्णन ऊपर किया गया है) से विपरीत है, जो वर्णनात्मक ही रहती है। यह सच है कि अंक एक निश्चित मापदण्ड के आधार पर ही दिए जाते हैं, परन्तु प्राप्तांक को पास/फेल, अच्छा/कमजोर जैसी श्रेणियों में रखने के लिए कोई तात्कालिक मूल्यांकन यहां नहीं होता। यह तथ्य गौर करने लायक है कि किसी भी पाठ्यक्रम विषयवस्तु में या पुस्तकों के शीर्षकों में 'मनोवैज्ञानिक मूल्यांकन' का जुमला नहीं मिलता।

अपेक्षाएं रखना अपने-आपमें बुरा नहीं है। आखिर हम भविष्य की ओर देखते तो हैं ही : हम वृद्धि तथा विकास चाहते हैं। परन्तु अपेक्षा एक आशा है या शायद एक सपना। आकलन में यह अपेक्षा अचानक एक मांग या शर्त बन जाती है। इसके सिवा बच्चा असफल कैसे होता? दरअसल, यहां हम यह कह रहे होते हैं: "तुम्हें इतना सीख लेना चाहिए था, पर तुमने नहीं सीखा। जरूर तुममें कोई कमी है" (उम्मीद है कि, मैं जब उत्तर पुस्तिका में उत्तरों की गुणवत्ता में सूक्ष्म बदलाव आने का तर्क देकर यह कह रहा था कि हम उसी उत्तर को बच्चे की सीखने की क्षमता के बारे में एक वक्तव्य में बदल देते हैं, उसकी प्रासंगिकता अब स्पष्ट हो चुकी होगी)। तो समस्या, जैसा मैं कह चुका हूं, अपेक्षाओं में नहीं है। हमें यह समझने की कोशिश करनी होगी कि वे दरअसल आकार कैसे लेती हैं और उन्हें लागू कैसे किया जाता है। हमें उनके औचित्य को प्रदत्त नहीं मान लेना चाहिए। अब तो हमें यह पहचान लेना चाहिए कि सभी शैक्षिक गतिविधियां लक्ष्य उन्मुख हस्तक्षेप होती हैं। उनके परिणामों की अपेक्षा करना, उनमें कई तो स्वयं सीखने से ही संबंधित हैं, हमारे लिए सही है। हमारे सामने यहां दरअसल जो विकल्प है वह इस बात में है कि हम किसी छात्रा विशेष को इस स्थिति के लिए कितनी तीव्रता, कितने आग्रह या कितनी निष्ठुरता से जिम्मेदार मानते हैं।

आकलन उपलब्धि परीक्षा मॉडल से शासित होता है। विषयवस्तु वैधता (कटेन्ट वैलिडिटी) की आवश्यकता यह है कि परीक्षा का फैलाव पाठ्यक्रम के अनुरूप हो। अमूमन प्रश्न-पत्र में पाठ्यक्रम जिन भागों में बंटा

हो, वही संरचना दोहराई जाती है। जाहिर है कि सभी प्रसंगों/उप-प्रसंगों को परीक्षा में शामिल नहीं किया जा सकता, परन्तु प्रत्येक भाग से कुछ प्रश्न लेना संतुलित रूप से पाठ्यक्रम को सम्मिलित करना मान लिया जाता है। यह तो काफी सरल-सा मसला है। परन्तु अगर आवश्यकता जिस प्रकार से प्रश्नों को शामिल किया गया है उसकी प्रकृति के मेल जैसे विभिन्न प्रसंगों को पढ़ाया गया था उसकी समझ से हो, तो यह मसला बेहद पेचीदा बन जाता है। समस्या दरअसल यह है कि पाठ्यक्रम यह संकेत नहीं देता कि प्रत्येक विषय-प्रसंग को पढ़ाने-सिखाने का उचित स्तर क्या होगा (छात्र उस सूचनाओं या विचारों से मानसिक स्तर पर किस प्रकार जुड़ेगा)। सो शिक्षक किसी विषय-प्रसंग को कैसे पढ़ाए (कितनी गहराई या पेचीदगी से) यह पता ही नहीं होता और प्रश्न-पत्र बनाने वाला किसी दूसरे ही स्तर को चुन सकता है। हम इस तथ्य पर अधिक ध्यान नहीं देते कि कई विषय-प्रसंग उच्चतर कक्षाओं में दोहराए भी जाते हैं, जैसे: पायथेगॉरस का प्रमेय (थियोरम), सिंधु घाटी की सभ्यता, विद्युत-चुम्बकीय नियम आदि। और इस संबंध में कोई निर्देश नहीं होते कि उच्चतर कक्षा में इन्हीं विषयों को पढ़ाने में क्या अंतर होना चाहिए। हम कह सकते हैं कि “अधिक या उच्चतर चिंतन” होना चाहिए। पर व्यवहारिक स्तर पर इसका क्या मतलब होगा, यह स्पष्ट नहीं किया जाता। ब्लूम वर्गीकरण के, जिस पर खूब चर्चा और आलोचना भी हुई है, प्रसंगों को संभाव्य स्तरों पर कैसे उठाया जाए, एक सामान्य मॉडल (तथा पारिभाषिक शब्दावली) को प्रस्तुत करने का प्रयास था, जिसे कई विषय क्षेत्रों पर लागू किया जा सके। इसका अभिप्राय एक शिक्षाशास्त्रीय सिद्धान्त देना नहीं था। अगर शिक्षक तथा परीक्षक दोनों ही विभिन्न विषय प्रसंगों के उद्देश्यों/सीखने के स्तर के बारे में किसी सुस्पष्ट वक्तव्य से निर्देश पा सकें तो विषयवस्तु की वैधता भी अधिक होगी। फिर भी ब्लूम वर्गीकरण के साथ या उसके बिना ही यह प्रश्न समीचीन है कि विगत छह या सात दशकों में इस शिकायत में कोई फर्क क्यों नहीं आया है कि परीक्षाओं में केवल रटन्ट स्मृति की ही जरूरत होती है। परन्तु मैं परीक्षा संबंधी सुधारों की दृश्य असफलता की चर्चा में नहीं उलझना चाहता। विषयवस्तु वैधता का उल्लेख इसलिए कर रहा हूँ क्योंकि यही दावा हमें पढ़ाने के बाद प्रत्येक छात्रा के आकलन और मूल्यांकन की अनुमति देता है। हम उन्हें कहते हैं “पाठ्यक्रम में फलां-फलां विषय-प्रसंग हैं। आपके शिक्षक उन्हें पढ़ा चुके हैं। सो, आपको प्रश्न-पत्र के सभी प्रश्नों के अच्छे उत्तर देने में सक्षम होना चाहिए।” यह तर्क उन छात्राओं को असफल घोषित करने/दण्डित करने का औचित्य प्रदान करता है, जो अच्छे जवाब नहीं दे पाते। हम देख सकते हैं कि स्कूली स्तर पर भी जो इकाई परीक्षा ली जाती है (तकरीबन एक माह बाद) वहां भी इस तर्क को लागू करने में कई विरोधाभास हैं। मैं अब यह दर्शाना चाहता हूँ कि अधिक व्यापक परीक्षा व्यवस्था इस स्थिति में और पेचीदगियां कैसे जोड़ती है। कहा यह जाता है (दुर्भाग्य से सही ही कहा जाता है) कि हमारे देश में शिक्षा व्यवस्था के बदले एक परीक्षा व्यवस्था है।

19वीं शताब्दी के मध्य में पाश्चात्य शैली की सार्वजनिक शिक्षा की शुरुआत से ही, परीक्षाओं की प्रकृति बाहरी रही है। ब्रिटिशों ने हमारे पास एक ऐसा गैर-लचीला मॉडल छोड़ा जिसे उन्होंने अपने खुद के देश में अधिक लम्बे असें तक जारी नहीं रखा। हमारे प्रथम विश्वविद्यालयों में (बम्बई, कलकत्ता, मद्रास) परीक्षण तथा प्रमाणन संबंधी प्रभावी शक्ति प्रारंभिक चरणों में लंदन में रही। सो बाह्य परीक्षा हमेशा से ही हमारी व्यवस्था का हिस्सा रही है। सैकेण्डरी बोर्डों तथा संबंधित विश्वविद्यालयों में यह बखूबी स्थापित हो चुका है। कई सालों तक सेवा-कालीन शिक्षकों (खासतौर से कॉलेज शिक्षकों) के साथ काम करने के बाद ही मैं यह समझ पाया कि शिक्षक स्वायत्ता व वृद्धि के बारे में हम जो कहते हैं, उसका काफी भाग अर्थहीन है। इस देश के महाविद्यालयों के शिक्षक किसी और की पाठ्यक्रम को पढ़ाते हैं और किसी दूसरे के प्रश्न-पत्र का कयास लगाने की कोशिश करते हैं। ठीक यही तो कोई कॉलेज शिक्षक अपने तीस साल के कार्यकाल के दौरान करता है। हमारे पास अकादमिक स्टाफ कॉलेज हैं, शिक्षक विकास के सेमिनार आयोजित किए जाते हैं, पर यह बुनियादी तथ्य जस का तस बना रहता है। कॉलेज शिक्षक को ईमानदारी से जो करना चाहिए वह यह

है कि वह एक गाइड ले और परीक्षा पास करने में छात्रों की मदद करे! मुझे स्वायत्त संस्थानों में काम करने का सौभाग्य मिला। जैसे अमरीकी विश्वविद्यालयों में आप हरेक प्रश्न-पत्र खुद बनाते हैं, उसे टाइप करते हैं, खुद उत्तरों को जांचते हैं। परन्तु व्यापक व्यवस्था में, जहां अधिकांश शिक्षण होता है, प्रश्न-पत्र बनाने का काम शिक्षण गतिविधि से बिल्कुल असम्बद्ध है।

यह सच है कि स्कूली चरण में बड़ी सार्वजनिक परीक्षा दसवीं कक्षा के बाद होती है। स्कूली स्तर की परीक्षाएं-वार्षिक, सत्रांत और मासिक परीक्षाएं, बेशक पहले होती हैं। इनसे शिक्षक जुड़े भी होते हैं। परन्तु यहां भी वे पाठ्यक्रम तथा विषयवस्तु वैधता नियम से निर्देशित होते हैं और कुछ भी बदल नहीं सकते। अतः किसी बोर्ड से जुड़े दर्जनों या सैकड़ों स्कूलों में प्रश्न-पत्र काफी समान होते हैं। फिर यह विचार भी है कि संकुल, मण्डल या खण्ड स्तर पर प्रश्न-पत्र बनाना उसकी गुणवत्ता को नियंत्रित करने का अच्छा तरीका है। संभव है कि यह सच भी हो, परन्तु इसका मतलब यह भी है कि प्रश्न विशेष संबंधी निर्णय उसे विभिन्न कक्षाओं (स्कूलों) में हुए शिक्षण से जोड़े बिना लिए जाते हैं। कक्षाओं में विषय-प्रसंगों पर जो भी वास्तविक आदान-प्रदान होता है, उससे आकलन निर्देशित नहीं होता। वह निर्देशित होता है पाठ्यक्रम के औपचारिक व तयशुदा वक्तव्यों से। ज्यादातर लोगों को लगता है कि यह तर्कसंगत और आवश्यक है। पर अब स्कूल आधारित व आंतरिक आकलन तथा सतत एवं समग्र मूल्यांकन द्वारा हम इसे बदलने की चेष्टा कर रहे हैं। पर अभी इसे साकार करने के लिए हमें लम्बी दूरी तक जाना है।

परीक्षाओं की एक दूसरी खासियत भी है जो उस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से आती है जिसमें औपनिवेशिक शिक्षा की स्थापना हुई थी। इस शिक्षा का मुख्य उद्देश्य था ब्रिटिश राज के प्रशासन के निचले स्तरों के लिए कार्मिकों के छोटे समूह को तैयार करना। कुछ लोग कहते हैं कि हम केवल क्लर्कों को प्रशिक्षित करते थे। मैं इस तथ्य को रेखांकित करना चाहूंगा कि तब केवल छोटी संख्या में औपचारिक शिक्षा प्राप्त लोगों की जरूरत थी। सिपाही, पुलिस कार्मिक, रेल्वे गैंगकार्मिकों आदि के लिए “शिक्षा” नहीं बल्कि केवल बुनियादी साक्षरता की दरकार थी। औपचारिक स्कूलों में स्वाल्प संख्या और कॉलेजों में उससे भी कम संख्या के चलते यह शिक्षा चयनात्मक थी। कुछ ही लोग उसमें दाखिला पाते थे। जैसे-जैसे कॉलेज शिक्षा की प्रतिष्ठा बढ़ी और नौकरियां पाने की संभावना के कारण वह वांछनीय बनी, दाखिले के लिए स्पर्धा भी बढ़ती गई। तृतीयक स्तर की प्रवेश परीक्षाएं सबसे पहले आईं। वे चयन का काम करती थीं। बाद में जब सैकेण्डरी बोर्ड स्थापित हुए, वे भी चयन या छंटनी उन्मुख बने। मानक ऊंचे रखो, कुछ को चुनो (जिसमें योग्यता हो) और बाकी को फेल करो। आज, शिक्षा के अधिकार के युग में हमें यह याद करने पर सदमा पहुंचेगा कि महज बीस वर्ष पूर्व राज्य स्तरीय मैट्रिक परीक्षा में सफल होने की औसत दर तकरीबन 50 फीसदी ही थी। मतलब, दसवीं तक पहुंचने वाले छात्रों में आधों को बेकार मानकर छोड़ दिया जाता था और हम इसे सामान्यतः सही भी मानते थे। बोर्ड परीक्षा, सैकेण्डरी शिक्षा पूरी करने का महत्त्वपूर्ण प्रमाणन थी, वह छात्र को मैट्रिक्यूलेट या दसवीं पास करने का प्रमाण-पत्र देती थी। पर साथ ही यह चयन का उपकरण भी थी, जो कुछ छात्रों को जिन्हें ऊंचे अंक मिले हों, आगे बढ़ने की अनुमति देती थी। इस प्रकार बोर्ड परीक्षा मूलतः स्पर्धात्मक चयन का माध्यम है।

ब्रिटेन में 11 प्लस परीक्षा इसलिए प्रारंभ की गई ताकि माध्यमिक शाला के स्तर पर ही छंटनी कर ग्रामर स्कूल व तत्पश्चात् विश्वविद्यालय जाने वाले बच्चों का गैर-अकादमिक कार्यक्रमों में जाने वाले बच्चों से अलग किया जा सके। चयन उपकरण के रूप में शैक्षणिक परीक्षा लेने के विचार का लम्बा इतिहास है। भारत में आजादी के बाद विशेष प्रवेश या चयन परीक्षाओं का विचार क्रमशः इसलिए उभरा ताकि समूचे भारतवर्ष से आने वाले उम्मीदवारों की समस्या से निपटा जा सके। आईआईटी-जेईई, एनडीए प्रारंभ में ऐसी ही विख्यात परीक्षाएं थीं। पेशेवर पाठ्यक्रमों (जैसे, इंजीनियरिंग, विभिन्न राज्यों द्वारा चिकित्सा तथा कृषि) में

परीक्षाएं इसलिए प्रारंभ की गईं क्योंकि उनकी हायर सैकेण्डरी परीक्षाओं को कई कारणों से अनुपयुक्त माना गया। हालांकि बोर्ड परीक्षाओं (जो पाठ्यक्रम आधारित उपलब्धि परीक्षा है) से चयन का काम इस प्रकार छीन लिया गया, फिर भी उनका उपयोग, क्रम तय करने के लिए किया जाता है। जिसे अधिक अंक मिलते हैं वह कम अंक पाने वालों से बेहतर स्थिति में रहता है : 82 पाने वाला, 80 पाने वाले से, 72 पाने वाला 70 पाने वाले से, 62 पाने वाला 60 पाने वाले से बेहतर स्थिति में रहता है। सार्वजनिक परीक्षाओं को जिस दृष्टि से देखा-समझा जाता है उसमें स्पर्धा का आयाम हावी है। चूंकि ये परीक्षाएं अकादमिक परीक्षाएं होती हैं, स्कूल संबंधी सभी आकलनों को भी इसी नजरिए से देखा जाता है। सभी परीक्षाओं को छात्रों में दूसरों से आगे निकलने की स्पर्धा माना जाता है, चाहे वह वार्षिक सत्र समाप्ति या मासिक परीक्षा ही क्यों न हो। इनके तनाव में जो समूह सबसे अधिक उलझता है वह है माता-पिता का। यही वह कारण है जिसके चलते निजी ट्यूशन तथा गाइड पुस्तक उद्योग प्राथमिक शाला स्तर पर भी कायम है।

हम अब आंतरिक तथा सतत एवं समग्र मूल्यांकन पर बल देना चाहेंगे। इस दिशा में सबसे बड़ी बाधा है आकलन तथा क्रम निर्धारण के बीच का जुड़ाव जो हमारी मानसिकता में गहराई तक पैठा है। इसमें और जटिलता पैदा करता है न्याय का सरोकार जो समझ में आता है, जिसकी नीयत नेक है पर जो दरअसल बेहद हानिकारक भी है। शिक्षकों के साथ तीस वर्ष से भी अधिक अर्से तक अपने काम के दौरान मैं स्थानीय प्रासंगिता तथा शिक्षकों द्वारा किए गए कक्षा आकलन में उनकी स्वायत्ता पर बल देता था। जब शिक्षक फीडबैक पाने के लिए किसी छोटी कक्षा परीक्षा को आयोजित करने के व्यवहारिक पक्षों पर चर्चा करते, तो उनके सरोकार समान होते। अक्सर वे यह कहते कि सभी छात्रों को परीक्षा एक साथ शुरू और खत्म करनी चाहिए, उन्हें दूर-दूर बैठना चाहिए, उन्हें नकल नहीं करनी चाहिए आदि-आदि। ध्यान रहे कि यह केवल साधारण कक्षा परीक्षा की बात है जिसका उपयोग केवल शिक्षक को ही करना है। हमें शिक्षकों की मदद इस विचार को भुलाने में करनी होगी। उन्हें यह समझाना होगा कि छात्रों के बीच पारस्परिक स्पर्धा और समान बर्ताव कक्षा में अप्रासंगिक और अवांछनीय है। दुरुस्त और शिक्षाशास्त्र की दृष्टि से उपयोगी आकलन सभी बच्चों को एक साथ दी गई समान परीक्षा ही हो यह जरूरी नहीं है। कक्षा में सीखने-सिखाने की गुणवत्ता को सुधारने के लिए जब हम आकलन को उपयोग में लेने की बात करते हैं तब एक बुनियादी समस्या हमारे सामने आती है। यह है छात्रों को क्रम सोपान में रखने की मनोवृत्ति।

यह स्वीकारना भी जरूरी है कि औपचारिक परीक्षा भी एक उपयोगी कार्य करती है। इसका स्वरूप ऐसा बनाया गया है कि वह हमें छात्र विशेष की स्थिति के विषय में व्यवस्थित और भरोसेमंद सूचना देती है। यह किसी व्यक्ति (जो अमूमन सत्ता के पद पर होता है) के व्यक्तिनिष्ठ फैसले का विकल्प है, जो गलत और अवचेतन रूप से अथवा जानबूझ कर पूर्वाग्रह पूर्ण भी हो सकता है। औपचारिक परीक्षा की स्वीकार्यता इसके विस्तार, विधि और मानदण्ड की स्पष्टता में स्थित होती है। तनाव तब पैदा होता है जब स्पष्टता का अभाव हो। छात्र तर्कसंगत कठिनाई और चुनौती से तब तक नहीं डरते, जब तक उन्हें यह न लगे कि उनकी आंखों पर पट्टी बांध दी गई है।

परीक्षा/आकलन से सटीकता की अपेक्षा रहती है क्योंकि इसमें परिमाणन तथा मापन का विचार होता है। इसके लिए स्पष्टता आवश्यक है। आदर्श रूप में चयन या श्रेणीकरण की परीक्षा में एक स्पष्ट योग्यता स्तर होना चाहिए : सेना, पुलिस, अग्नि शमन सेवा के लिए चिकित्सकीय रूप से स्वस्थ होना जरूरी है। सावधानी बरतने पर उत्तीर्ण/अनुत्तीर्ण का यह सरल-सा निर्णय लिया जा सकता है। बहुत बढ़िया या बहुत कमजोर प्रदर्शन में किसी की रुचि नहीं होती। दुर्भाग्य से हमारे देश में जहां सीटों की भारी कमी है, इस प्रकार के प्रमाणन का मूल्य गौण है। असली आवश्यकता है स्पर्धात्मक चयन की। राष्ट्रीय स्तर पर आयोजित चयन परीक्षाओं में चयन दर तकरीबन एक प्रतिशत या अक्सर उससे भी कम होती है। हजार में केवल दस

उम्मीदवार सफल हो पाते हैं। इस कारण कृत्रिम तथा अतार्किक सटीकता के दावे स्वीकारे जाते हैं। किसी को चुनने/छोड़ देने का निर्णय अंकों में सूक्ष्म अंतरों पर निर्भर करता है। जैसे 500 में से 437 आए या 436। हमें व्यवहारिक कारणों के चलते यह दिखावा करना पड़ता है कि यह तार्किक और सटीक है। अगर ऐसे अंक न हों (जिन्हें न्यायपूर्ण और तर्कसंगत स्वीकारा जाए) तो हम भाई-भतीजावाद या भ्रष्टाचार की दिशा में फिसल जाएंगे। ईटीएस नामक एक अमरीकी संगठन है जिसने जीआरई, टोफेल, सैट जैसी परीक्षाएं विकसित कीं और जिनका उपयोग वह करता है। उसके पास दशकों का शोध अनुभव है। पर वह इन परीक्षाओं में परसेंटाइल मापक्रम के अनुसार से परीक्षार्थियों को रखता है : सबसे ऊपर के 1 प्रतिशत, तब अगला 1 प्रतिशत आदि। वहां 800 में से 659, 658, 657 अंक की बात नहीं की जाती।

मैं जिस खुशनुमा कक्षा परीक्षा को प्रोत्साहित कर रहा हूं, उससे चयन परीक्षा से संबंधित उपरोक्त चर्चा असंबद्ध लग सकती है। इस मसले को उठाने का कारण यह दर्शाना है कि स्कूल तथा कक्षा की रूटीन परीक्षाओं के बारे में भी यह मान्यता व्यापक है कि 3/10 या 4/10 जैसे अंक दिए जा सकते हैं और 100 में से 59 या 60 पाने वाले बच्चों में महत्वपूर्ण अंतर है। 1960 के दशक से ही ग्रेडिंग प्रणाली की पैरवी की जाती रही है तथा सीबीएसई ने उसे लागू भी किया है। पर मेरा सोचना है कि अधिकतर शिक्षक अब भी अंकों के साथ ही काम करते हैं (जिसमें 2.5 और 3.5 भी शामिल हैं)। और वे तब एक परिवर्तन-सारणी का उपयोग कर ग्रेड तक पहुंचते हैं। यह समस्या भी मनोवृत्ति के स्तर की है। आकलन के लिए ग्रेड प्रणाली को अपनाना यह घोषणा करना है कि हम 101 अंकों की झूठी सटीकता में विश्वास को भी त्याग रहे हैं। इसका परिवर्तन सारणी से कोई रिश्ता नहीं है।

अगर परीक्षा किसी प्रकार की योग्यता परीक्षा (क्वालिफाइंग टेस्ट) हो जिसका उद्देश्य श्रेणीकरण हो तो प्रमाणन अपने-आपमें बुरा नहीं है। अगर आप सेवा चयन बोर्ड या एनडीए या दूसरी तरह के पेशे में जाना चाहते हैं - जैसे अगर आप अग्निशमन कर्ता बनना चाहते हैं तो आपको शारीरिक व चिकित्सकीय रूप से एक स्तर तक चुस्त-दुरुस्त होना होगा। पर यह श्रेणीकरण का हां/ना किस्म का वर्णन है, यह क्रम सोपान में रखना नहीं है। क्रम सोपान की समस्या यह है कि हम ऐसे समाज में रहते हैं जहां अभाव है। हमारे यहां चयन दर वास्तव में नृशंस है - हजार में एक, जो दरअसल हमारे औसत से ऊपर ही है। आप जिस शब्दावली से परिचित हैं उसमें बात करें तो हम 99वें परसेंटाइल में भी अंतर कर रहे हैं। ईटीएस जिसके पास एक शताब्दी के शोध अनुभव हैं वह ऐसा कोई दावा नहीं करता। सच्चाई तो यह है कि मापन अभिमुख अमरीकियों को भी हमने अपंग कर दिया है।

जब मैं आईआईटी में था, वहां कुछ साल बाद मैं उन छात्रों के लिए अनुशंसा पत्र लिखता था जो इंजीनियरिंग की पढ़ाई के बाद, दुर्भाग्य से अमरीका में प्रबंधन पाठ्यक्रम करना चाहते थे। अनुशंसा पत्र में पूछा जाता था 'क्या आप इस छात्र को तुलनात्मक छात्रों के सर्वोच्च पांच प्रतिशत में रखेंगे? अगर नहीं, तो क्या आप उसे सर्वोच्च दस प्रतिशत में रखेंगे? हमारी परंपरा के अनुशंसा-पत्रों में मैं इस प्रकार के इंद्राज देखता हूं: 'यह छात्र मेरी कक्षा का सबसे प्रतिभाशाली छात्र है' आदि। या आईआईटी में अगर आपको, मैं संख्या भूल रहा हूं, 593 अंक मिले तो आप बम्बई या मद्रास में इलैक्ट्रिकल इंजीनियरिंग में प्रवेश पा सकते हैं, जिसकी भारी प्रतिष्ठा है। पर अगर आपको 590 मिलते हैं तो आप खड़गपुर में मैकेनिकल इंजीनियरिंग में ही दाखिला पाएंगे। हमारे देश में यह एक कानूनी आवश्यकता है। क्योंकि अगर ऐसा नहीं होगा तो भाई-भतीजावाद, पक्षपात, आदि-इत्यादि के आरोप लगेंगे। हमें इस बात के प्रति भी सचेत होना चाहिए। अर्थात् हमारे सामने जो चुनौती है वह परंपरागत मूल्यांकन प्रणाली के अंदर बदलाव के विचार तलाशने के बदले उसके बाहर उन्हें तलाशने की है और यकीन मानिए वे दरअसल हैं।

यह बात मैं गत पांच वर्षों से कह रहा हूँ कि राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा 2005 ने एक नई खिड़की खोली है। यह न केवल उसमें निहित अनुशंखाओं से खुली है बल्कि उसके गिर्द हुए व्यापक विमर्श द्वारा भी खुली है। महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि इस दस्तावेज ने छात्रों द्वारा प्राप्य ज्ञान या जो वे सीख सकते हैं उसकी एक नई परिभाषा या एक नई अवधारणा दी है। इसके महत्त्व को समझने के लिए हमें सीखने के आकलन के मौजूदा स्वरूप को देखना होगा। किसी भी परीक्षा का प्रश्न पत्र किसी विषय के तयशुदा विषय-प्रसंगों की सूची पर आधारित होता है। प्रश्न-पत्र के ढांचे को भी पाठ्यक्रम के ढांचे के समान होना होता है। अगर पाठ्यक्रम के चार भाग हों तो प्रश्न-पत्र के भी चार ही भाग होंगे और उन पर ठीक उतना ही वजन दिया जाएगा जितना की आवश्यकता है। तो लक्ष्य वह पूर्व-परिभाषित तथा तयशुदा ज्ञान है जिसका वर्णन पाठ्यचर्या बनाते समय किया गया था। इसलिए जब हम छात्रों ने क्या सीखा इसका आकलन करते हैं तो हम कुछ ऐसी चीज को तलाश रहे होते हैं जो पहले से ज्ञात है और जिसकी भविष्यवाणी की जा सकती है। यहां खाली बर्तनों को भरने की छवि सटीक है। यही कारण है कि गाइडबुक्स इतनी उपयोगी होती हैं। वे सीधे उस तक पहुंचती हैं जो परीक्षा में महत्त्वपूर्ण होता है।

दूसरे शब्दों में हम उस ज्ञान के साथ काम कर रहे थे जो जड़ था, जो तयशुदा था। ज्ञान के विषय में यही हमारी धारणा थी। इसलिए उसका पूर्वानुमान लगाया जा सकता था। क्योंकि हमारी आकलन प्रणाली या मूल्यांकन प्रणाली उस चीज तक पहुंचती है - जो ज्ञान हो और जिसकी पूर्वानुमान भी लगाया जा सके।

यही कारण है कि मुझे यह नहीं लगता कि हम शिक्षा प्रणाली के अंदर काम कर उसे बदल सकेंगे। हमें बाहर से ही कोई विचार तलाशना होगा। और मुझे लगता है कि बाहर विचार मौजूद हैं। मैं पिछले पांच-छह सालों से कह रहा हूँ कि राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा तथा उसके इर्दगिर्द हुए विमर्श ने हमें विचार दिए हैं। हमें राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा ने क्या-क्या दिया? एनसीएफ ने अब्बल तो यह स्पष्ट किया कि हमारी परीक्षा प्रणाली और पाठ्यचर्या तथा प्रश्न-पत्र किसी विषय पर अंक देने पर आधारित थे और प्रश्न-पत्र इसी आधार पर बनाए जाते थे।

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा कहती है कि बालक ज्ञान का सह-रचयिता है। मैं सावधानी बरतते हुए 'सृजन' शब्द का उपयोग नहीं कर रहा हूँ क्योंकि उसको लेकर भ्रम और अनावश्यक विवाद है। साथ ही रूपरेखा में पाठ्यपुस्तक से परे जाकर ज्ञान को स्कूल के बाहर के जीवन से जोड़ने का सिद्धान्त भी है। इसका भला क्या अर्थ है? इसका मतलब है कि प्रत्येक छात्र जो ज्ञान अर्जित करता है वह पहले से निर्धारित नहीं है और पाठ्यक्रम में उसका पूरा विवरण शामिल नहीं है। अगर हम ज्ञान, बोध तथा भावनाओं के इस नए उभरते रुझान को पकड़ना चाहते हैं (जिसे कई महत्त्वपूर्ण अर्थों में व्यक्तिगत होना ही होगा) तो हमें आकलन के एक नए नजरिए की जरूरत होगी।

मेरा तर्क यह रहा है कि जिसे हम सतत एवं समग्र आकलन कहते हैं वह तभी सार्थक रूप से संभव हुआ जब हमने राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा में दी गई ज्ञान की उपरोक्त परिभाषा पर पुनर्विचार किया। सतत एवं समग्र मूल्यांकन का उल्लेख 1986 में (राष्ट्रीय शिक्षा नीति) भी किया गया था। परन्तु जब निर्धारित ज्ञान को जस का तस छात्रों को सौंपना हो जिसे उसे जस का तस पुनः प्रस्तुत करना हो तो इस प्रकार के छात्र मूल्यांकन की संभावना ही कहां बचती है? इकाई (यूनिट) परीक्षा, उसके बाद इकाई परीक्षा; फिर एक इकाई परीक्षा और तब उन सबके प्राप्तांकों को जोड़ लेने मात्र की ही जरूरत थी। जिस प्रकार के लचीले किस्म के आकलन की चर्चा हम अब कर रहे हैं वैसा आकलन तार्किक रूप से ही असंभव था। कोई विषय पाठ्यचर्या (अर्थात् विषय-प्रसंगों की सूची) विकास के किसी भी प्रकार के सह-शैक्षिक पक्षों का उल्लेख नहीं करती जिसका समावेश समग्र घटक द्वारा किया जाना हो। परन्तु नए अधिगम में, हम न केवल नए ज्ञान को

अननुमेय मानते हैं, बल्कि यह भी स्वीकारते हैं कि बच्चे अपनी गति से सीखते हैं और उनमें वैविध्य होता है, जिसकी हम कद्र करते हैं, जिसकी प्रशंसा भी करते हैं। ये परिप्रेक्ष्य ज्ञान के ऐसे नजरियों को प्रस्तुत करते हैं, जो निश्चित रूप से क्रांतिकारी हैं। जिसे सीखने को इतनी समृद्ध दृष्टि से देखा जाए उसके आकलन के उपाय तलाशना भी चुनौतीपूर्ण काम है जो शोध की एक उत्तेजक प्रक्रिया बन सकता है। मैं यहां यह दावा करना चाहूंगा कि मापन की मेरी विशेषज्ञता (जिसका एक संसाधन टूलकिट है) कुछ ऐसा योगदान कर सकता है जो शिक्षाशास्त्र को समृद्ध करे।

मैं मूल्यांकन की बुनियादी अवधारणा में एक और परिप्रेक्ष्य जोड़ूंगा, जो कुछ सैद्धान्तिक होने के बावजूद उपयोगी है। कोई भी सोद्देश्य गतिविधि, लक्ष्य-अभिमुख गतिविधि जिसमें स्वाधीन मनुष्य अकेले या सामूहिक रूप से जुड़े, वह किस दिशा में जाएगी इसका पूर्वानुमान लगाना कठिन ही होगा। हमारे लक्ष्य होते हैं। उद्देश्य, लक्ष्य या गन्तव्य की अवधारणा का सबसे महत्वपूर्ण तत्व यह है कि हम फिलहाल वहां नहीं पहुंचे हैं। इसका अर्थ यह है कि जब हम किसी उद्देश्य को स्वीकार लेते हैं, हम यह कह रहे होते हैं कि हम उस तक पहुंचने के लिए काम करेंगे। अगर इसके सभी आवश्यक चरण साफ-साफ बता दिए गए हों, तो हम आगे बढ़ते जाते हैं - सोचने-विचारने या फिक्र करने की जरूरत ही नहीं रहती। परन्तु अगर उद्देश्य ऐसा हो जिसका पथ तयशुदा न होकर मुक्त हो, तो हमें प्रगति के प्रबोधन या उसकी समीक्षा या विश्लेषण जैसी किसी चीज की जरूरत होती है। यह जांचने के लिए कि हम सही दिशा में बढ़ रहे हैं या नहीं। इसका सबसे अच्छा उदाहरण पुराने जमाने में जहाज चालन से मिलता है, जिसमें रात के वक्त कोई व्यक्ति कुतुबनुमा और षष्ठक लेकर ध्रुव तारे को देख आगे का पथ दर्शाता था। इसी आधार पर गन्तव्य तक पहुंचने के लिए जहाज को इस या उस दिशा में मोड़ने संबंधी निर्णय लिए जाते थे।

किसी दूरस्थ और यदाकदा अस्पष्ट रूप से परिभाषित उद्देश्य तक बढ़ने के लिए ऐसा प्रबोधन अनिवार्य है। परन्तु इसकी एक दिशा अवश्य होती है। तो फिर इस प्रकार जांचे बिना हम उस उद्देश्य तक भला कैसे पहुंच सकते हैं? परन्तु अगर पथ स्पष्ट हो, हमारा आचरण पूर्व-नियोजित और नियंत्रित हो, तो वह एक गणितीय रूप से निर्धारित (एल्गोरिद्मिक) पथ का अनुसरण करेगा, न कि एक लचीले पथ का। अतः अगर हम यह कहते हैं कि सीखने का उद्देश्य मुक्त है, तो फिर सीखने की प्रक्रिया चरण-दर-चरण व्यवस्थित रूप से नहीं चल सकती, हालांकि ऐसा करना हमारे लिए सुविधाजनक होता। तो हमें प्रगति का प्रबोधन करना होगा। मैं यहां 'प्रबोधन' शब्द का उपयोग उसके श्रेष्ठतम अर्थ में कर रहा हूँ, फीडबैक के छोटे वृत्त के रूप में। यहां यह जोड़ना भी जरूरी है कि फीडबैक के लिए एकत्रित सूचना की व्याख्या की जाए और तब उसके अनुरूप कदम उठाए जाएं, न कि उन्हें फाइलों में दर्ज कर भुला दिया जाए।

मेरा अंतिम और संभवतः केन्द्रीय बिन्दु यह है कि सीखने के इस किस्म के प्रबोधन को शिक्षाशास्त्रीय रूप से उपयोगी होना है तो उसे स्वायत्त होना होगा तथा स्थानीय भी होना होगा। विकेन्द्रीकरण तथा स्वायत्ता का मुद्दा शिक्षा की भारी समस्या है और हमारे देश में यह एक वास्तविक चुनौती है। हमें स्थानीय को प्राथमिकता देने की ओर बढ़ना है। अगर हम 'सतत एवं समग्र मूल्यांकन' को सामान्य समझ के स्तर पर भी लें तो भी यह साफ हो जाता है कि इसे स्थानीय ही होना चाहिए। सतत आकलन केवल शिक्षक द्वारा पढ़ाते समय ही किया जा सकता है। व्यवस्था से जुड़े शेष लोग तो केवल स्कूल के फाटक तक अपनी सलाह, मार्गदर्शिकाओं तथा आवश्यकताओं के साथ आ सकते हैं। बाकी काम हमें शिक्षक पर छोड़ना होगा। बाहर से प्रश्न-पत्र बनाना जिससे शिक्षक कक्षा में बच्चों की परीक्षा ले, वह तो बिल्कुल ही भिन्न प्रकार का मूल्यांकन होगा।

जो आकलन चल रही पढ़ाई में मददगार हो वह स्थानीय व स्वायत्त ही हो सकता है। यही कारण है कि सतत एवं समग्र मूल्यांकन को हमें आंतरिक मूल्यांकन के ही एक विस्तार के रूप में देखना चाहिए न कि परीक्षा सुधार के एक नए घटक के रूप में। परन्तु इस आंतरिक गतिविधि को भी हमें एक अलग ही तरीके से देखना होगा। विश्वविद्यालय के स्तर पर जो योजना है उसमें 15 अंक आंतरिक तथा 85 बाह्य मूल्यांकन के लिए रखे जाते हैं। यह आंतरिक घटक सीखने की उन विधियों के उपयोग तथा उन पक्षों को शामिल करने के लिए होता है जो अंतिम लिखित परीक्षा में समायोजित नहीं किए जा सकते। परन्तु कुल योग पाने के लिए दोनों को जोड़ना पड़ता है। चूंकि हम सेवाओं और संतरों को नहीं जोड़ सकते, सेवा को संतरा बनना पड़ता है। दूसरे शब्दों में आंतरिक घटक को भी 15 अंकों के माप में बदलना पड़ता है, जैसा किसी भी परंपरागत परीक्षा में किया जाता है।

अगर हम सतत एवं समग्र मूल्यांकन को सार्थक रूप से समग्र बनाना चाहते हैं तो यह चुनिंदा सिखाए-पढ़ाए जा चुके पक्षों के अंकों को महज जोड़ने का मसला नहीं हो सकता। हमें यह समझना होगा कि संपूर्ण या संक्षिप्त छवि, प्रतिवेदन करने के लिए, दूसरों के द्वारा देखे जाने के लिए होती है। शिक्षक के लिए उसका कोई मूल्य नहीं होता। शिक्षक को तो प्रगति के छोटे संकेतों के अलावा उनकी नामौजूदगी पर भी अनुक्रिया करने की जरूरत है जो एक समग्र रूपरेखा में नजर आते हैं - फिर चाहे वे किसी भी संभव तरीके से दिखाई दें। अतः शिक्षक के लिए इसकी बुनियादी शर्त स्वायत्ता है। बेशक इसके लिए बाह्य सहयोग भी होना चाहिए।

हमें पाठ्यचर्या प्रक्रिया की बेहतर समझ की आवश्यकता है। हमें स्रोत पुस्तकों की, सामग्रियों की और शिक्षक अभिमुखीकरण कार्यक्रमों की जरूरत है। यह सब आवश्यक है। परन्तु अंतिम चरण में हमें सब त्यागना होगा और शिक्षक पर विश्वास करना होगा। यह हमारे परंपरागत सरोकारों के संदर्भ में बिलकुल नई बात है। मैं इसे एक ठोस उदाहरण से स्पष्ट करता हूं। 2007 में एनसीईआरटी में एक उपक्रम प्रारंभ किया गया जो प्राथमिक स्तर के लिए आकलन के लिए संदर्भ पुस्तकों को विकसित करने का था। यहां मौजूद हममें से कुछ लोग इस प्रक्रिया में जुड़े थे। पहले पहल तो यही फैसला लेने का सवाल उठा कि शिक्षक पर 'कितना' भार डाला जा सकता है। प्रथम दौर में प्रत्येक खण्ड में सैकड़ों पन्ने थे। इसे संक्षिप्त कर 100 पृष्ठों तक सीमित किया गया। जिसकी मुझे खुशी है। परन्तु एक विशाल परीक्षण परियोजना भी प्रारंभ हुई जो यूनिसेफ के उदार सहयोग से कई महीनों तक दस राज्यों में उनके राज्य शिक्षा अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषदों के माध्यम से चली। इसने मेरे मन में एक मौके को खो देने की निराशा जगाई। मुझे याद आता है कि इस परीक्षण परियोजना को प्रारंभ करने के एक सेमिनार में मैंने कहा था कि यह परियोजना अनोखी है। क्योंकि भारत के इतिहास में पहली बार ऐसा हुआ था कि जिस संसाधन को विकसित करने में विशेषज्ञों ने इतना चिंतन और श्रम लगाया था उसे शिक्षकों तक ले जाया जा रहा था या उनके सामने पेश किया जा रहा था। उसे लागू करने के मकसद से नहीं बल्कि उसे प्रयोग में लेकर जांचने और हमें यह बताने के लिए कि वह कारगर है या नहीं, और यह बताने के लिए कि उसे कैसे सुधारा जा सकता है। यह मेरा सपना था। पर ऐसा कुछ हो नहीं सका। जो अधिकारी हमारी शिक्षा का प्रबंधन करते हैं वे यह तो जानते हैं कि शिक्षकों से निर्देशों को लागू कैसे करवाया जाए, पर उनकी बात सुनने के विषय में वे कुछ नहीं जानते। इस प्रक्रिया में अनुभवों का विशाल भण्डार पैदा हुआ। पर मुझे नहीं लगता कि उसे गंभीरता से दर्ज तक किया गया। यह अवसर हमने खो दिया। अपने पाठों में आकलन शामिल करने के बारे में दस राज्यों के कुछ हजार शिक्षकों ने क्या कहा था? तमाम सुझावों में कौन से तत्व ऐसे थे जो उन्हें कारगर लगे थे? हम - अर्थात् हमारी व्यवस्था इससे कितना कुछ सीख सकती थी।

संदर्भ पुस्तिकाओं की यह कथा दर्शाती है कि आकलनों/परीक्षाओं का उपयोग कर ऐसी सूचनाएं एकत्रित करना जो हमें यह समझने में मदद करें कि जमीनी स्तर पर क्या होता है, ताकि हम उसमें सुधार कर सकें,

हमारी परंपरा का हिस्सा ही नहीं है। हमारे चिंतन पर बाहरी परीक्षा और निरीक्षण का अंतर्निहित सिद्धान्त हावी है। क्षेत्र परीक्षण, आकलन की एक भिन्न रूपरेखा को निरूपित करता है। हमारे पास तथ्यात्मक परीक्षाएं या समूह कार्य जैसे नवाचारों के क्षेत्र-परीक्षण संबंधी साहित्य बहुत कम है। हमारी वृत्ति आड़ी दिशा में चलने की है : किसी नवाचार को एक तालुका में प्रायोगिक स्तर पर चलाना, फिर उसे एक जिले में लागू करना और तब एक लम्बी छलांग लगा सभी जिलों में लागू कर देना। सतत एवं समग्र मूल्यांकन के मसले में, मैं कहूंगा कि हमें मर्यादित व संचालनीय परन्तु बेशक सार्थक व प्रासंगिक से शुरुआत करनी चाहिए। तब क्रमशः धीमे-धीमे इसे आगे बढ़ाना चाहिए - इसकी मांग तथा इसके लिए सहयोग को बढ़ाते हुए क्रमशः विकसित करना उतना ही महत्वपूर्ण है जितना किसी तयशुदा पैकेज को अधिक विस्तृत क्षेत्र में लागू करना।

अगर हमें सुधारने के लिए शिक्षाशास्त्र के एक भाग के रूप में आकलन को रखना है, तो हमें यह भी जान लेना होगा कि वह आकलन हमें दरअसल ऐसा क्या बताता है जिसका उपयोग हम सुधार के लिए करते हैं? यह हमारी संस्कृति का हिस्सा नहीं है - हमारी पूरी व्यवस्था का हिस्सा नहीं है - शिक्षा पर अब तक हमने जो किया उसका हिस्सा नहीं है। जब हम छोटे स्तर से बड़े स्तर तक बढ़ने की बात करते हैं, तो आप प्रयोग को एक तालुका में, तब दो में और उसके बाद खड़ी रेखा में फैलाते हैं। हमारे पास तथ्यात्मक परीक्षाओं के प्रारंभिक उपयोग का या कक्षाओं में सामूहिक कार्य के प्रारंभिक स्वरूपों के उपयोग के बारे में बहुत कम साहित्य उपलब्ध है। ऐसी सूचनाएं स्वाल्प हैं जिन पर हम चिंतन-मनन करते और तब यह कहते कि यह आकलन का अधिक सशक्त रूप है। यह कैसे संभव है कि सभी शिक्षक - अनुभवी शिक्षक, अर्ध-शिक्षक (पैरा टीचर्स, हालांकि यह शब्द निषिद्ध है), नए लिए गए शिक्षक जिन्हें प्रारंभिक प्रशिक्षण मिलना बाकी हो-वह सब करने लगे जो राज्यों द्वारा जारी की गई विस्तृत मार्ग-दर्शिकाओं में उनसे चाहा गया है। हम जानते हैं कि यह कारगर नहीं होगा। परन्तु यह कहने का एक जिम्मेदार तरीका कैसे तलाशा जाए कि यह जस का तस तो कारगर नहीं होगा, पर हम उसमें सुधार कर सकते हैं? हिन्दी, गणित, पर्यावरण को सीखने के विविध पक्षों के आकलन के लिए जो बुनियादी काम करने हैं, वे उपलब्ध हैं। हमें यह सीखना होगा कि विभिन्न प्रकार की कक्षा स्थितियों में हम उन्हें सबसे अच्छी तरह से कैसे रूपान्तरित करें। इसके लिए हमें क्षेत्र से एकत्रित ऐसे प्रदर्शन आंकड़ों की जरूरत होगी जो उन बच्चों को ग्रेड देने पर ध्यान केंद्रित नहीं करते, जिन्हें हम जानते हैं।

जैसा मैं यहां-वहां कहता रहा हूं, सतत एवं समग्र मूल्यांकन में हमें कुछ ऐसी चीज से शुरू करना होगा जो हमारे बस में हो। इस आठ सौ पृष्ठ के बहु-आयामी प्रपत्र से नहीं, जिसे हरेक शिक्षक, जिनमें हमारे हाल में चयनित ऐसे शिक्षक भी शामिल हैं, जिनका प्रारंभिक प्रशिक्षण तक बाकी है, उनसे उम्मीद यह रखी जाती है कि वे सभी साल में तीन या चार बार प्रत्येक बच्चे का ऐसा आकलन करेंगे। हम शुरुआत यह कहने से कर सकते हैं कि ठीक है, हम कुछ ऐसे शुरू करें जो बस में हो और तब क्रमशः उसे विस्तृत करेंगे। यह विस्तार केवल संख्यात्मक नहीं होगा, बल्कि हम सीखने के साथ उसे फैलाएंगे। यही तो आकलन है। यही आकलन की परंपरा है, जहां आप जांचते हैं और देखते हैं। आप तलाशते हैं कि कौनसे बदलाव करने जरूरी हैं। इसे हमारी चर्चा का एक बेहद समृद्ध भाग बनना होगा।

भाषा, गणित, पर्यावरण अध्ययन को मापने के बुनियादी कार्य हमारे पास हैं। परन्तु हम राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा के अनुरूप सीखने के संदर्भ में इस मापन को कैसे अधिक सार्थक व स्वस्थ बना सकते हैं?

माना यह जाता है कि आकलन सर्वेक्षण इसके विषय में बताते हैं, व्यवस्था कैसे काम करती है और कैसे सुधारों की आवश्यकता है, हमें उसका संकेत भी देते हैं। पर मैं इससे असहमत हूं, खासकर इसलिए क्योंकि हमारे पास केवल ऐसे व्यापक स्तर के सर्वेक्षण हैं जिनमें मानक उपकरणों का उपयोग किया गया है। मैं

नियमित सार्वजनिक परीक्षाओं और व्यापक स्तर के आकलनों को एक ही श्रेणी में रखता हूँ, क्योंकि दोनों ही बाहरी होते हैं। वे आकलन आंकड़ों के प्रबंधकीय उपयोग में मदद करते हैं - न कि शिक्षाशास्त्रीय उपयोग में। शिक्षाशास्त्रीय उपयोग केवल उस शिक्षक द्वारा किया जा सकता है जिसके पास फीडबैक से निपटने के संसाधन हों। या फिर उन लोगों द्वारा जो पाठ्यपुस्तकों की इकाइयों को उत्तर-पुस्तिकाओं को देख या बच्चों से चाही गई प्रतिक्रियाओं को सुधारना चाहते हों। ऐसे फीडबैक के लिए नमूने के रूप में दस हजार या दो लाख छात्रों की आवश्यकता नहीं होती। विभिन्न क्षमताओं व पृष्ठभूमियों के महज पांच-दस छात्र भी किसी इकाई पर काम करें तो भी काम चल सकता है। उदाहरण के लिए, अगर वे अम्लता पर या किसी भी विषय-प्रसंग पर काम करें तो हमें मूल शिक्षाशास्त्रीय प्रक्रिया को सुधारने के पर्याप्त संकेत मिल सकते हैं। परन्तु अगर हमें व्यापक व्यवस्था संबंधी निर्णयों के लिए सूचना चाहिए - जैसे पीटीआर को बदलने के लिए शिक्षकों का परिनियोजन, शिक्षक प्रशिक्षण पैकेज, टीवी या कम्प्यूटर सुविधाओं का इत्यादि के लिए - तो संभवतः बड़े सर्वेक्षणों का कुछ उपयोग है। शिक्षार्थियों के सीखने के स्तर संबंधी आंकड़ों का शिक्षाशास्त्रीय उद्देश्यों से उपयोग करने तथा प्रबंधकीय उद्देश्यों से उनका उपयोग करने में अंतर है, हमें उसे समझना होगा। बेशक प्रबंधकीय निर्णय भी जरूरी हैं। इसलिए क्योंकि हमें छात्रों का चयन करना होता है, हमें उनमें से कुछ को छात्रवृत्तियां देनी होती हैं, कुछ को अगली कक्षा में प्रोन्नत करना होता है, शिक्षा समाप्ति संबंधी प्रमाण-पत्र जारी करने होते हैं, आदि-इत्यादि। आकलन का उपयोग शिक्षाशास्त्रीय उद्देश्यों के बजाय हमेशा से ऐसे ही उद्देश्यों के लिए किया जाता रहा है। फिर भी ऐसे आकलन के सपने को जीवित रखना जरूरी है। मेरा सोचना है कि यह कहना वास्तव में गंभीर बात है कि अगर कोई शिक्षिका कुछ बच्चों को सोमवार को कुछ करते देखती है, तो कुछ दूसरों को मंगलवार को। कुछ बच्चे वह काम करते समय बातचीत करते होते हैं तो दूसरे समूह में एक-दूसरे के साथ काम करते होते हैं। और यह अवलोकन करते-करते उसे यह अहसास होने लगता है कि वे कहां हैं, उनकी प्रगति कैसी हो रही है। हमें इस समृद्धता को ध्यान में रखना है, उसे तुच्छ बना व्यवस्थित तालिकाओं में नहीं बदल डालना है जिसके खांचों में अंक भरे जाने हों।

अब मैं शैक्षिक परीक्षाओं की सटीकता संबंधी उन सीमाओं पर अपने व्यक्तिगत विचार दर्ज करना चाहता हूँ जिनकी उम्मीद हम कर सकते हैं। मुझे नहीं लगता कि जब आप उत्तर-पुस्तिका में किसी बच्चे का जवाब देख रहे हों, फिर चाहे वह 10 पृष्ठ लम्बा (तकरीबन 1 हजार शब्दों का) लेख ही क्यों न हो, तो हम उसकी गुणवत्ता के बारे में चार सार्थक अंतरों से अधिक जान सकते हैं। मैंने दशकों तक अंग्रेजी शिक्षकों से 20 अंकों के माप को लेकर झगड़ा किया है। उनमें से कई यह दावा करते हैं कि किसी एक जवाब को ठीक साढ़े सात अंक मिलने चाहिए। अगर हम उसे आठ अंक भी दे दें, तो आखिर कह क्या रहे हैं? यही ना कि हम यह साफ-साफ बता सकते हैं कि किसे 8 अंक मिलने चाहिए, कौन-सा उत्तर नौ अंक लायक है और किसे केवल सात ही मिलने चाहिए। ग्रेडिंग प्रणाली की पैरवी 40 वर्षों से भी पहले की गई थी ताकि हम 10 अंक के मापदण्ड की सटीकता के झूठे दावों से अलग हट सकें। यहां विचार यह नहीं था कि प्रश्न-पत्र के प्रत्येक मद पर दिए गए अंकों को जोड़कर हम 100 में से कुछ प्राप्तांक निकालें, इसके बाद एक परिवर्तन सारिणी का उपयोग कर इन अंकों को तदनुसार ए, बी, सी आदि अक्षरों में बदल डालें। मैं तो कहूंगा कि यहां अत्यावश्यक तर्क यह है कि प्रत्येक मद के उत्तर का आकलन पांच ग्रेडों के माप पर किया जाए। अंक माप में उन्हें बदलना किसी पर्व के समग्र ग्रेड तक पहुंचने का सुविधाजनक तरीका है। पर यह कतई आवश्यक नहीं है।

इस बात को लेकर मेरा सरोकार इसलिए है क्योंकि सतत एवं समग्र मूल्यांकन के समग्र पक्ष में कई नए गुणों का समावेशन है, अतः उनका भी आकलन किया जाना है और उनसे संबंधित निर्देश मुहैया करवाए जाते हैं। यहां बुनियादी मान्यता यह है कि इन गुणों का विकास पाठ्यचर्या द्वारा पोषित होता है : अर्थात् वे सीखने

संबंधी ऐसे ध्येय हैं जिनके लिए हमारे पास प्रासंगिक निवेश हैं। जब उनमें से कुछ का आकलन 3 बिन्दु माप के आधार पर तो कुछ का 4 या 5 बिन्दु मापों से किया जाना हो तो मान्यता यह है कि हम प्रगति के ऐसे स्तरों में स्पष्ट अंतर कर सकते हैं। परन्तु, उदाहरण के लिए, दस वर्षीय बच्चों में दूसरों के प्रति संवेदनशीलता का विस्तार भला क्या है और इन भिन्न-भिन्न स्तरों के तहत क्या 4, 3, 2 या 1 बिन्दु दिए जा सकते हैं? हमें इन मान्यताओं पर चिंतन करना चाहिए और कहीं अधिक सरल श्रेणियों को अपनाना चाहिए। जब हम प्रदर्शन का अवलोकन करते हैं, हम पहले गुणात्मक अंतरों पर गौर करते और उन्हें स्वीकारते हैं। केवल तब ही हम उन्हें बिन्दुओं अथवा ग्रेडों में कूटबद्ध कर सकते हैं। (किसी निश्चित आयु के बच्चों की) सबसे ऊपर से लेकर नीचे तक विस्तार (रेंज) के बारे में स्पष्टता हमारी पहली जरूरत है। उसके बाद ही 3 या 5 बिन्दु के माप संबंधी निर्णय लिया जा सकता है। मुझे तो लगता है कि अधिकतर क्षेत्रों में 'संतोषजनक प्रगति' और 'असंतोषजनक' की श्रेणियों के परे जाना कठिन है। और इस अपरिष्कृत 2 बिन्दु माप का औचित्य भी आसान नहीं होगा। मैं यह भी सोचता हूँ कि हमें विकास के कई आयामों के लिए ऐसे गुणात्मक अंतरों पर भी विचार करना होगा जो समांतर या वैकल्पिक हों। ताकि हम किसी बच्चे का वर्णन टाइप-1 या टाइप-2 कहकर कर सकें, बजाय उसे 1 बिन्दु या 2 (अधिक ऊंचा) बिन्दु देने के। इस सबके लिए मार्गदर्शिकाओं को अंतिम रूप देने के पहले हमें कहीं अधिक चर्चा और बहस करने की जरूरत होगी।

मैं अपनी बात शैक्षिक परीक्षण के केन्द्रीय पूर्व-पीठिका तथा कुछ विचारणीय मुद्दों को दोहराने का साथ समाप्त करता हूँ। उद्देश्य अपनाए जाते हैं और उनसे संबंधित निर्देश मुहैया करवाए जाते हैं। व्यक्तिगत प्रगति का आकलन अपेक्षाओं के संदर्भ में किया जाता है। विशिष्ट कार्यों की कुछ वैधता दर्शाना आसान पक्ष है। उदाहरण के लिए, गणित या विज्ञान के किसी सवाल को हल करना किसी अवधारणा की समझ को परिलक्षित करता है। जब कोई उपलब्धि परीक्षा आयोजित की जाती है तो उसमें दो बड़े दावे जुड़े होते हैं। पहला कि नियोजित निर्देश (सीखने के अनुभव) लक्षित क्षमता के विकास को पोषित करेंगे। दूसरा यह कि सभी स्कूलों के सभी बच्चों को उनके सामान्य रूप से दक्ष शिक्षकों द्वारा दरअसल ठीक वैसे ही निर्देश मिले हैं जिनका संकेत पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकों में दिया गया था। आकलन से प्राप्त आंकड़ों की व्याख्या इन्हीं आशावादी मान्यताओं पर आधारित होती है। अतः अगर किसी स्कूल के कक्षा 5 के छात्रों को किसी परीक्षा में (जिसका प्रयोग सर्वेक्षण में किया गया हो) कम अंक मिलते हैं, तो यह तथ्य हमें दरअसल क्या बताता है? क्या यह हमें बच्चों की सीखने की क्षमता के बारे में कुछ बताता है, पाठ्यचर्या की उपयुक्तता के बारे में कुछ बताता है, शिक्षण विधि के बारे में कुछ बताता है या शिक्षक के विषय में कुछ बताता है? जब देश भर के स्कूलों में समान परीक्षा का उपयोग किया जाता है और (राष्ट्रीय औसत के अलावा) जिलेवार तथा राज्यवार औसत प्राप्तांक उपलब्ध होते हैं तो इन संख्याओं का अर्थ दरअसल क्या होता है?

जब ज्ञान तथा सीखने की प्रक्रियाओं के बारे में हमारी अवधारणाएं अधिक सरल थीं, उस वक्त भी आकलन पर्याप्त कठिन ही था। अब जब हमने अननुमेयता की धारणा जोड़ दी है और वैविध्य को अपना लिया है, तो हमें और अधिक जटिलताओं से निपटना है। पर यह नैराश्य का संदेश नहीं है, बल्कि यह स्मरण दिलाने की कोशिश है कि इस सबको समझने के लिए ईमानदार प्रयास आवश्यक है। ♦

भाषान्तर : पूर्वा याज्ञिक कुशवाहा